वैदिक एवं श्रमण परम्परा में चित्त की विशुद्धि

अशोक कुमार*

भारतीय संस्कृति के मनीषी चाहे वे वैदिक परम्परा के हों अथवा श्रमण परम्परा के, सबने चित्त शुद्धि के क्षेत्र में पर्याप्त ऊहापोह की है। दोनों ही परम्परा में साधना को एक अनुष्ठान (कर्मकाण्ड) न मानकर आन्तरिक साधना माना गया है, जिसकी सहायता से मनुष्य के व्याकुल हृदय, अस्थिर चित्त या उद्विग्न मन को शान्ति करने का प्रयत्न किया जाता है। यह माना गया है कि मोक्ष–मुक्ति, कैवल्य, विशुद्धि जैसे सर्वोच्च आध्यात्मिक मूल्य को ध्यानाभ्यास के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। आज के वैज्ञानिक युग में तकनीकी विकास के द्वारा प्राप्त गतिशीलता ने मानव की चित्तवृत्ति को जो अस्थिरता दी है और जिसके कारण वह तनावग्रस्त होता जा रहा है उस वृत्ति को स्थिरता और सन्तुलन का काम भी ध्यान कर सकता है।

मानव का परम पुरुषार्थ सच्चे सुख और शान्ति को प्राप्त करना है। परम शान्ति द्वन्द्व के मिटने से ही प्राप्त होती है और राग–द्वेषरूप कामना के विसर्जन होने पर ही द्वन्द्व मिटते हैं। राग–द्वेष, कामनादि द्वन्द्व मनुष्य की विभिन्न वृत्तियों के परिचायक माने गये हैं। मनुष्य की चित्तवृत्तियाँ इन्हीं कारण समत्व भाव में नहीं रह पाती है और वह अनुकूल–प्रतिकूल परिस्थितियों से विचलित होता रहता है। जब व्यक्ति आत्म–दर्शन या स्वदर्शन की साधना करता है, अपने भीतर के दोषों को झाँककर देखता है और उन दोषों के परिमार्जन की विधि पर विचार करता है, तब वह प्रगति पथ पर आगे बढ़ता है। अपने भीतर के दोष को देखना एवं चिन्तन–मनन करना एवं उनसे मुक्त होने का प्रयत्न करना ही ध्यान है। यही आध्यात्मिक साधना है, क्योंकि इस साधना का प्रमुख लक्ष्य है अपने अन्तर को प्रकाशित करना और इस प्रकाश के आलोक में अपने अन्तर में छिपी हुई वासनाओं को निर्मूल कर सुप्त पड़े हुए, सिद्धत्व के बीज को विकसित करना। इस बीज को विकसित करने की साधना ध्यान है।

मानव जीवन आकांक्षाओं और इच्छाओं से उत्पन्न समस्याओं का महासागर है। इन समस्या–सागरों के कारण ही व्यक्ति अपने मूल उद्देश्य से भटक जाता है और वृत्तियों के विभिन्न रूपों से प्रभावित होता रहता है, समस्याओं का निदान नहीं कर पाने के कारण विक्षिप्त होकर नाना प्रकार के दुःखों से पीड़ित होता रहता है। योग साधना एवं चित्त शुद्धि के अभ्यास से व्यक्ति समस्याओं के मूल कारण को खोजने का प्रयत्न करता है। इससे चित्त धीरे–धीरे शान्त व निर्मल होता है, बुद्धि और विवेक जागृत होते हैं, जिससे वह किसी भी बात को गहराई से एवं स्पष्टता से पकड़ने लगता है। अतः ध्यानी के समक्ष जब भी कोई समस्या उपस्थित होती है तो उसका चित्त तुरन्त समस्या के वास्तविक कारण तक पहुँच जाता है और वास्तविक मूल कारण के प्राप्त हो जाने पर समस्या का निवारण सुगम हो जाता है। यह अवस्था कम से कम विक्षेपों के कारण ही सम्भव है। यही कारण है कि महर्षि पतञ्जलि[1] ने साधकों को वृत्तियों अथवा विकल्पों से मुक्त होने का निर्देश दिया है, क्योंकि विकल्परहित अवस्था ही तप साधना का लक्ष्य है।

आत्मा को पूर्वकृत कर्मों से उत्पन्न संस्कारों से मुक्त करने के लिए चित्त को विशुद्ध किया जाता है। पूर्वकृत कर्मों या संस्कारों के कारण व्यक्ति प्रमादी बन जाता है, निरन्तर इसी दिशा में चिन्तन करता रहता है कि कैसे उसे भौतिक सुख–साधन के सारे उपक्रम प्राप्त हो जाएँ। एक साधन की उपलब्धि होने पर दूसरे के लिए प्रयत्न प्रारम्भ कर देता है। किन्तु इस तरह उसके प्रयत्न अनन्तकाल तक चलते रहें तब भी उसकी आकांक्षाओं या इच्छाओं की पूर्ति सम्भव नहीं है। एक इच्छा या विकल्प उपस्थित हुआ उसका अभी समाधान भी नहीं हुआ कि दूसरा विकल्प उठ खड़ा हुआ। कभी–कभी परस्पर विरोधी विकल्पों या इच्छाओं से व्यक्ति के मन में यह एक ऐसा वातावरण उपस्थित हो जाता है कि मनुष्य स्वयं से भागने लगता है, यह एक अत्यनत दुःखद स्थिति है। साधना से व्यक्ति अप्रमत्त चेता हो जाता है। सांसारिक उपलब्धियों की नश्वरता को जानकर उनके प्रति उसका लगाव कम होने लगता है। व्यक्ति की विवेक शक्ति जग जाती है। वह नियंत्रित एवं संयमित जीवन जीने में विश्वास करने लग जाता है। उसका मन विकल्पों के द्वन्द्व में भटकना बन्द कर देता है। उसकी यह अवस्था ध्यान की साधना के लिए उपयुक्त भूमिका प्रस्तुत कर देती है, क्योंकि वह अपने मन को एक विचारबिन्दु पर स्थिर कर सकता है। जब किसी का मन किसी एक वस्तु पर केन्द्रित हो जाता है तो वह ध्यान कहलाता है। आचार्य उमास्वामी तत्त्वार्थसूत्र में ध्यान की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि मन के चिन्तन का एक ही वस्तु पर अवस्थान या केन्द्रित करना चित्त की शुद्धि है।[2]

मानव मन बहुत अधिक चंचल है। वह कभी भी एक स्थान पर नहीं टिक पाता है। मानव–मन की यह चंचलता ही मनुष्य के दुःखों का कारण बनती है। व्यक्ति सदैव यही विचार करता रहता है कि सारी दुनियाँ उसी के चारों तरफ आकर्षित हो, सभी उसी के मनोनुकूल आचरण करें। सभी परिस्थितियाँ उसके मन के अनुसार घटित हों। लेकिन यह सम्भव नहीं हो पाता है। परिणामस्वरूप व्यक्ति इस दिशा में और अधिक प्रयत्न करना प्रारम्भ कर देता है। उसके उस प्रयत्न के

***स्नातकोत्तर प्राकृत एवं जैनशास्त्र विभाग वी0 कुँ0 सिं0 वि0वि0, आरा (बिहार)**

परिणाम उसकी तृष्णा को निरन्तर बढ़ाते रहते है, जो दुःख का कारण बनते हैं। ध्यान की साधना से व्यक्ति अपनी इस भूल को समझता है। वह यह विचार करता है कि जब मैं स्वयं ऐसा चाहता हूँ, मेरा स्वयं का मन ऐसा चाहता है, तो दूसरा ऐसा क्यों नहीं चाहेगा। जैसे ही उसके मन में यह भाव जगता है, वह तृष्णारूपी विकल्पों के मिथ्यात्व से अवगत हो जाता है। अब उसके मन में एक ही बात कौंधती है, वह है स्वयं को सुधारने की। जब वह इस अवस्था में आ जाता है तो उसके मन में चलने वाली बहुमुखी चिन्तन की धारा एक ओर प्रवाहित होने लगती है। इस कारण व्यक्ति अनेक चित्तता से दूर हटकर एक चित्त में स्थित हो जाता है और यही ध्यान है। बौद्ध–परम्परा में ध्यान के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया कि किसी विषय पर चित्त को स्थिर कर चिन्तन करना ही ध्यान है।[3]

भारतीय संस्कृति में ध्यान ऐसी साधना है जो व्यक्ति को चित्तशुद्धि करती है। इसके अभ्यास से व्यक्ति वृत्तियों, विकल्पों से मुक्त होकर एक–चित्तता की स्थिति को प्राप्त कर सकता है। व्यक्ति अपने क्षुद्र स्वार्थों और राग–द्वेष की प्रवृत्ति को कम करके समाज में एक सुव्यवस्था की नींव डाल सकता है। उसकी यह प्रवृत्ति उसे तो सुख और शान्ति का वातावरण उपलब्ध कराती ही है साथ ही साथ समाज के सभी प्राणियों को भी इस दिशा में विकास करने का अवसर प्रदान कराती है। ध्यान से व्यक्ति विनम्र हो जाता है, उसमें स्वार्थ, अभिमान एवं दीनता का धीरे–धीरे अभाव होता जाता है और मैत्री, स्वाभिमान, सहृदयता झलकने लगती है। ध्यान की नियमित साधना चिन्तन और व्यवहार की दूरी सदा के लिए समाप्त कर देती है। आज आचरण एवं आस्था के बीच जो खाई बन गई है उसका सही निदान ध्यान है।

वैदिक वाङ्मय में वेद और उपनिषद् अति प्राचीन है। इनमें योग, ध्यान, साधना, विषयक विचार स्थान–स्थान पर मिलते हैं। वैदिक–परम्परा में ध्यान–विषयक साधना का उल्लेख योग के अन्तर्गत माना जाता है, क्योंकि योग प्रणाली ही सर्वाधिक प्रचलित प्रणाली है। योग–साधना मंत्रयोग, लययोग, हठयोग, राजयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग आदि अपने विविध रूपों में प्रचलित रही हैं जिससे चित्त की शुद्धि होती है। वैदिक–वाङ्मय में वेदों को बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। यजुर्वेद में येाग के सम्बन्ध में कहा गया है कि मोक्ष की इच्छा रखने वाले हम (योगी) लोग शुद्ध मन (शुद्धान्तःकरण) से योगफल के द्वारा प्रकाशमय आनन्दस्वरूप अनन्त ऐश्वर्य में स्थित होते हैं।[4] यहाँ योग साधना योगी की आध्यात्मिक वृत्ति का परिणाम है। योगीजन योगाभ्यास के द्वारा मुक्ति या मोक्ष–पथ पर अग्रसर होते हैं और परमसुख को प्राप्त करते है। यह योग अथवा ध्यान का आध्यात्मिक स्वरूप माना जा सकता है। बाद में ओपनिषदिक साहित्य में ध्यान पर विस्तृत चिन्तन हुआ

और योग का आत्मपरक अथवा अध्यात्मपरक विवेचन भी किया गया। इसे आत्म–ज्योति, ब्रह्म–स्वरूप, आत्म–दर्शन को प्राप्त करने वाला कारक माना गया। विष्णु–पुराण में कहा गया है कि आत्मा–ज्योति के दर्शन के लिए साधना की आवश्यकता होती है। जब साधना समाधि की ओर अग्रसर होती है तब ध्यान अनिवार्य हो जाता है। समाधि की प्राप्ति में ध्यान प्रमुख है।[5] ध्यान की अनुभूति से ही आत्म–स्वरूप प्रकट होता है और ध्यान साधना इन्द्रियों की बाह्य प्रवृत्तियों से नहीं होती वरन् अन्तर्मुखी वृत्ति से होती है।[6] अन्तर्मुखी वृत्ति व्यक्ति को रागादि प्रवृत्तियों से मुक्त करती है, फलतः साधक भावरहित होकर अपने साधना पथ पर आगे बढ़ता जाता है और अन्त में ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। कठोपनिषद् में कहा गया है कि योग–विद्या का पालन करके ही नचिकेता रागादि से अलिप्त होकर तथा मृत्यु के भय से रहित होकर ब्रह्म का प्राप्त हुआ।[7]

जैन धर्मदर्शन की साधना का केन्द्रबिन्दु है–आत्मा। आत्मतत्त्व की अनुभूति आत्मज्ञान व आत्मलीनता, यही इस साधना का मूलभूत लक्ष्य रहा है। इस लक्ष्य की ओर गतिमान होने के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति शरीर व मन से अपना तादात्म्य न्यून करते हुए अन्ततः आत्मा में ही प्रतिष्ठित हो जाए। इसके लिए ध्यान की साधना परमावश्यक है क्योंकि यही ध्यान मनुष्य को कर्मावरण से मुक्त करता है और कर्मावरण से मुक्त हुए बिना आत्मा में प्रतिष्ठित हो पान सम्भव नहीं है। भगवान् महावीर परम तपस्वी थे। अपनी कठोर ध्यान साधना के बल पर ही उन्होहंने ग्रन्थियों का भेदन किया, वीतरागता की अवस्था को प्राप्त कर कैवल्य ज्ञान से मुक्त हुए। जैन साधना पद्धति में ध्यान को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है। द्रव्य संग्रह में इसकी उपयोगिता पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि नियमपूर्वक ध्यान से मुनि निश्चय व व्यवहार दोनों प्रकार के मोक्ष मार्ग को पाता है। इसलिए एकाग्रचित्त ध्यान करना चाहिए। ध्यान के द्वारा आत्मा की अनुभूति हो सकती है।[8] अतः ध्यान आत्मानुभूति में सहायक हो सकता है बशर्ते इसकी निरन्तर एवं नियमपूर्वक साधना की जाए।

आत्मानुभूति के लिए चारित्रशुद्धि आवश्यक है और चारित्रशुद्धि के लिए संयम अनिवार्य है तत्पश्चात् चित्त की शुद्धि हो सकती है। इन दोनों की प्राप्ति ध्यानाभ्यास के द्वारा सम्भव है। राग–द्वेष विषयासक्ति मनुष्य को अपने पथ से स्खलित कराते हैं। लेकिन ध्यान–साधना में रत साधक इष्ट–अनिष्ट विषयों के राग–द्वेष और मोह से रहित हो जाता है, इसलिए उसके जहाँ नवीन कर्मो के आगमन का निरोध है वहाँ उस ध्यान से उद्दीप्त तप के प्रभाव से पूर्व संचित कर्मों का भी क्षय होता है। तात्पर्य यह है कि संवर और निर्जरारूपी कर्मक्षय की प्रक्रिया ध्यान–साधना के कारण प्रवाहमान रहती है। इस प्रकार साधक मोक्षरूपी मार्ग पर

निरन्तर बढ़ता जाता है और अन्त में इसे प्राप्त भी कर लेता है। ध्यान की साधना से साधक ऐसा क्यों कर लेता है इस सम्बन्ध में आचार्य उमास्वाति का कहना है कि मन को अन्य विषयों से हटाकर किसी एक ही वस्तु में नियन्त्रित करना ध्यान है।[9] मन की चंचलता ही व्यक्ति को अपने उद्देश्य से भटकाती रहती है। जब उसकी चंचलता को समाप्त कर उसे उसके उद्देश्य की तरफ मोड़ने का प्रयास किया जाता है तो यह विकल्पों से रहित होकर अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेना चाहता है। जहाँ तक, जैन साधना के लक्ष्य की बात है तो वह आत्मानुभूति ही है।

प्रायः चिन्तन करने की विधि को ध्यान करना समझ लिया जाता है, परन्तु ध्यान और चिन्तन में निरत्त है। यही कारण है कि जैनाचार्यों ने ध्यान का अर्थ चिन्तन नहीं, बल्कि चिन्तन का एकाग्रीकरण करना माना जिससे चित्त की शुद्धि होती है। आवश्यक निर्युक्ति में चित्त को किसी एक लक्ष्य पर स्थिर करना या उसका निरोध करना ही चित्त शुद्धि माना गया है।[10] वस्तुतः चिन्तन की प्रक्रिया में मन किसी एक स्थान पर स्थिर नहीं रहता है, जबकि ध्यान की प्रक्रिया में मन की बहुमुखी चिन्तनधारा को एक ही दिशा में प्रवाहित होने दिया जाता है। इस कारण साधक अनेकचित्तता से मुक्त होकर एक चित्त में स्थिर होता है। तत्त्वानुशासन में कहा गया है कि चित्त को विषय विशेष पर केन्द्रित कर लेना ही साधना है।[11] एक चित्त में स्थित रहने वाला व्यक्ति कर्मों का अल्प संग्रह करता है, बाद में जब वह सुस्थिर चित्त वाला बन जाता है तो कर्मों का क्षय करने लगता है। कर्मों का क्षय करने से वह मलिन वृत्तियों को क्रमशः नाश करते जाता है और अन्ततः आत्मानुभूति की अवस्था में पहुँच जाता है। योगसार प्राभृत में आचार्य अमितगति ध्यान के लक्षण पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं– आत्मस्वरूप का प्ररूपक रत्नत्रयमय ध्यान किसी एक ही वस्तु में चित्त की स्थिति करने वाला साधु को होता है, जो उसके कर्मों को क्षय करता है।[12]

अतः यह कहा जा सकता है कि वैदिक और श्रमण परम्परा में चित्त की विशुद्धि के सम्बन्ध में समुचित चिन्तन मिलता है। दोनों ने ही एक स्वर से इसकी महत्ता को स्वीकार किया है तथा इसे निर्वाण, मोक्ष, कैवल्य प्राप्ति का एक सबल साधन माना है। यद्यपि इन दोनों परम्पराओं की आध्यात्मिक चिन्तनधारा में तीन तत्त्वों को महत्त्वपूर्ण माना गया है फिर भी चित्त शुद्धि को एक विशिष्ट स्थान दिया गया है। जहाँ वैदिक परम्परा में कर्म, ज्ञान एवं भक्ति की त्रिपुटी पर बल दिया गया है, वही जैनों ने सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्चारित्र को प्रमुखता दी है।

संदर्भ ग्रन्थों की सूची :–

1. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। योगसूत्र (पतञ्जलि कृत), टीका हरिकृष्णदास गोयनका, गीता प्रेस, गोरखपुर, द्वितीय संस्करण, संवत् 2011, 1/2

2. एकाग्रचिन्तानिरोधोध्यानम्। तत्त्वार्थसूत्र, विवेचक पं० सुखलाल संघवी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1976, 9/27
3. समन्तपासादिका, नवनालन्दा महाविहार, नालन्दा, 1964, खण्ड 1, पृ. 145–146
4. यजुर्वेद, दयानंद संस्थान, नई दिल्ली, 34/44
5. विष्णु पुराण, 6/7/92, अनु. श्री मुनिलाल गुप्त, गीता प्रेस, गोरखपुर, संवत् 2024
6. केनोपनिषद्, अष्टदश उपनिषद्, वैदिक संशोधन मंडल, पूना 1958, 1/3
7. केनोपनिषद्, मैसूर, 2/3/18
8. द्रव्यसंग्रह, अनु. पं० मोहनलाल शास्त्री, परमश्रुत प्रभावक मंडल, अगास, 1919, 47
9. तत्त्वार्थसूत्र, संघवी, 1/27
10. आवश्यक निर्युक्ति, ऋषभदेव जी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्थान, रतलाम, 1929, 47
11. तत्त्वानुशासन, वीरसेवा मन्दिर ट्रस्ट प्रकाशन, दिल्ली, 1963, 56
12. योगसारप्राभृत, वीतराग सत् साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, भावनगर, संवत् 2034, 6/7

****